❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ७ Year 7

अंक १ Number 1

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ०प्र०)

(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission

Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मण्डल

काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ०प्र०)

वार्षिक मूल्य ३। एक अंक १)

प्रकाशक — श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट शाहजहाँपुर

उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूची :-

विषय	लेखक	पृष्ठ
१—सम्पादकीय		१
२—साधना	समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज फतेहगढ़	४
३—निष्काम भक्ति	कु० पुष्पाराजी सक्सेना	६
४—पत्र	श्री रामदास गुप्ता तिनसुकिया आसाम	१२
५—खुदा और नाखुदा	श्री मुसाहिब राय शाहबादी	१४
६—मनुष्य आज क्या करे ?	जगदीशप्रसाद अग्रवाल बी०ए०	१५
७—कामना	कु० पुष्पा रानी सक्सेना	२२
८—सहज मार्ग ही भक्ति का सच्चा साधन	गुँडेराव पटवारी नागवारकर 'साहित्यरत्न'	२७
९—नसीहत या शिक्षा अच्छी चीज है अगर वह खुद को दी जावे	कु० कस्तूरी चतुर्वेदी	३०
10—Concentration	Shri Ram Chandra Ji President	33
11—Sahaj Marga A New School of Thought	Sri Raghavendra Rao B.Sc.,B.E.M.I.S.E.	39
12—My Master of this world & beyond	Ram Chandra Saxena	43
13—The Vision of the Divine.		49
14—The Quest.	Sri Raghavendra Rao B Sc., B.E.M I.S E.	53
15—My Master of this world & beyond (-III-)	Shri R. C. Saxena	60

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

Shri Ram Chandra Mission

(Head Quarters — Shahjahanpur U. P.)

Branches & Training Centres

1. Lakhimpur-Kheri	U.P.		Under Sri	Hardatta Singh
2. Puranpur (Pilibhit)	„		„	Karuna Shankar
3. Lucknow	„		„	Nasib Chand
4. Moradabad	„		„	R. C. Saxena
5. Bareilly	„		„	Naraen Sahai
6. Delhi		i „	„	S. K. Rajgopalan
		ii „	„	M. L. Chaturvedi
7. Tinsukia	Assam	„	„	Ramdas Gupta
8. Madras	South India	i. „	„	C. M. T. Mudaliar
		ii. „	„	R. Viraraghavan
9. Vijayavada	„	„	„	N. Kumaraswami
10. Tirupati	„	„	„	Dr. K.C. Varadachari
11. Beliary & Hassan	„	„	„	Raghavendra Rao
12. Gulbarga	„	„	„	Sripati Sarnad
13. Seram	„	„	„	Ayal Reddy
14. Trichinopoli	„	„	„	R. Seshodari
15. Pathankot	East Panjab	„	„	Satya Pal
16. Fatehgarh (Farrukhabad)	U.P.	„	„	Dr. Lalta Prasad

'A Peep into Sahaj Marga.'

(by Sri Ishwar Sahai)

The book which is the latest publication of Shri Ram Chandra Mission is now out, and can be had from any branch or Centre of the Mission. The book is an endeavour to present to the readers the real picture of Sahaj Marga, explaining its principles and technique in greater details. The Sahaj Marga as a new contribution to world thought offers a practical course of Yoga, easily adjustable in the normal routine of a modern life. The book is meant to provide for a practical insight into the system, inorder to satisfy the growing curiosity of the people towards Sahaj Marga.

Publication Department
Shri Ram Chandra Mission,
Shahjahanpur U. P.

Printed by:- Gandhi Press, Shahjahanpur.

॥ सम्पादकीय ॥

अप्रत्याशित परिस्थितियों के आजाने के कारण पत्रिका के इस अंक के प्रकाशन में कुछ विलम्ब हो गया। इसके लिये हम अपने सुविज्ञ पाठकों से क्षमायाचना करते हैं।

परम-तत्व का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये समयानुसार साधना के क्षेत्र में नये नये प्रयोग होते रहे हैं। सर्वोत्तम साधना के रूप में, राजयोग का, भारतवर्ष में अपना विशिष्ट स्थान रहा है। किन्तु समय के प्रवाह के साथ ही दुर्भाग्यवश कुछ ऐसी राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ आईं कि जिनके कारण आत्म-चिन्तन के क्षेत्र में बौद्धिकता और पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्तियों का प्राबल्य होता गया। जिसके फल स्वरूप साधना का प्रयोगात्मक-पक्ष लुप्त होगया और राजयोग की साधना भी अपने मौलिक रूप को खोकर कठिन आग्राह्य एवं रूढ़ि ग्रस्त होकर प्रभाव हीन हो गई।

हर्ष की बात है कि फतेहगढ़ निवासी महात्मा रामचन्द्र जी के स्तुत्य प्रयास से राजयोग की साधना के इतिहास का नवीन अध्याय 'सहज मार्ग' के रूप में आरम्भ हुआ। परम श्रद्धेय महात्मा रामचन्द्र जी अध्यक्ष श्री रामचन्द्र

मिशन शाहजहाँपुर ने अपनी जीवन-व्यापी समस्त साधना से उसे नवीन उत्कर्ष प्रदान कर, जन-जीवन के लिये उसे अत्यन्त सरल, सुगम एवं प्रास्य बना दिया। 'सहज-मार्ग' की अपनी कुछ विशिष्टतायें हैं जो लौकिक तथा पारमार्थिक जीवन में मंजुल सामञ्जस्य स्थापित कर खोये हुये संतुलन को पाने में अत्यधिक सहायक सिद्ध हो रही हैं।

केवल शान्ति काल में ही नहीं वरन् युद्ध और घोर अशान्ति के समय में भी, इस राजयोग का विशिष्ट महत्व रहा है। आसुरी भावापन्न शक्तियों के दुर्दमनीय रूप धारण कर लेने पर, विजय लाभ के लिये, आत्मबल की अनिवार्यता असंदिग्ध मानी गई है। महाभारत का विनाशकारी युद्ध दैवी और आसुरी शक्तियों के संघर्ष का ज्वलंत उदाहरण है जिसमें योगिराज भगवान कृष्ण ने किंकर्तव्य-विमूढ़ अर्जुन को 'योग' द्वारा आत्मस्थ होने की दिव्य प्रेरणा में प्रदान की थी। इसी के पश्चात् ही महान धनुर्धर तथा अतुलनीय तेजस्वी वीर अर्जुन के हमें दर्शन प्राप्त होते हैं। चीन के बर्बर आक्रमण में भी उसी प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं जिसमें कि हमें, गीता के दिव्य संदेश से भावित महारथी अर्जुन के समान ही सम्बद्ध होकर आसुरी भावापन्न चीन के दम्भ-घट को चूर चूर करके आत्मबल एवं दिव्य संस्कृति की प्रतिष्ठा करनी है।

गत-सितम्बर में आसाम के कुछ लब्ध प्रतिष्ठ महानुभावों के अनुरोध पर मिशन के अध्यक्ष पूजनीय महात्मा रामचन्द्र जी ने, आसाम का व्यापक दौरा किया और सहज-मार्ग के दिव्य-सन्देशों से वहां के निवासियों को लाभान्वित करते हुये 'सहज-मार्ग की साधना-प्रक्रिया और उसके लक्ष्य पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला। स्थान स्थान पर वहां के निवासियों ने प्रतिदिन दो दो तीन विराट सभाओं का आयोजन किया जो उनके उत्साह और जिज्ञासा की उत्कृष्ट प्रमाण थीं। आसाम प्रान्त में, सहज-मार्ग की लोकप्रियता तथा महत्व को पाने की अदम्य अभिलाषा के विकासमान रूप को देखकर अगले वर्ष भी, देश के उस प्रदेश के भ्रमर का निश्चय किया जा चुका है जहां असीम रूप में प्रकृति की सुरम्यता एवं वैभव बिखरा हुआ है।

* साधना *

[समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़]

(गताँक से आगे)

ज्ञान, उपासना, सुख

जब तक व्यक्ति किसी वस्तु के महत्व, प्रभाव और लाभ से परिचित नहीं होता, तब तक न उसे इतमीनान (विश्वास) होता है, न उस पर स्थिर होता है। और जब तक स्थिर नहीं होता है, तब तक उसे आराम और आनन्द नहीं मिलता। समस्त आनन्द का रहस्य केवल चित्त की वृत्ति के ठहराव और स्थिरता का परिणाम है, सुख, स्थिरता और आराम का उत्तराधिकारी हुआ करता है, क्योंकि सृष्टि क्रम में ऐसी ही व्यवस्था है, और इसी पर यह खेल हुआ करता है। किन्तु ज्ञान या साक्षात्कार के महत्व पर जो इतना बल दिया गया है, उसके अभिप्राय का सम्बन्ध बन्धन और आवरण की समस्या से है, अन्यथा जो कुछ हुआ, हो रहा है, या होगा, वह यूँही अपने सिलसिले में चलत रहता है।

अब प्रश्न यह होता है, कि फिर ज्ञान का क्या गौरव है यदि अपने आप ही हुआ करता है, तो फिर जानने की इच्छा और जानने प्रयत्न की क्या आवश्यकता शेष रहती है ? उत्तर यही है कि जिसे हम जानना, जानने की इच्छा और

जानने का प्रयत्न करना कहते हैं, वह भी तो इसी सृष्टि क्रम में मौजूद है। उससे बचाव कब है ! वह तो यूँ ही होता रहेगा फिर सवाल पैदा होता है कि हम चिंता क्यों करें। जब कि हमारे चिंता किये बिना ही एक काम अपने आप होता है, तब तो वह अप्राप्य है। इसका उत्तर यह है कि चिंता न करो तो बहुत अच्छा है। यदि बेफिक्री रहे तो इससे अच्छी और क्या बात हो सकती है ! किन्तु जिसको हम चिंता कहते हैं, वह दिल की कुरेद है, जो आन्तरिक इच्छा के प्रभाव के अंतर्गत उत्पन्न हुआ करती है, और जब तक कि इच्छा पूरी नहीं हो लेती, तब तक यह अपना काम करती रहती है। इसी इच्छा को संस्कृत में 'वासना' कहते हैं। इसी से मानवीय संसार व्यक्त रूप में आता है, और जब तक यह इच्छा इच्छाहीनता में परिवर्तित नहीं हो लेती, तब तक शान्ति नहीं आती।

इच्छा का इच्छाहीनता में परिवर्तित होना स्थिरता उपासना और ठहराव है। यह या तो ज्ञान से पैदा होती है, या इच्छित वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर तृप्ति की स्थिति उत्पन्न होकर हो कर स्थिरता का कारण बन जाती है। इस कारण ज्ञानियों ने ज्ञान के गौरव का राग जोर शोर के साथ अलापा है। यह अक्षरशः ठीक है। जब तक ज्ञान नहीं होता, विवेक, निर्णय और दिल की मजबूती की कमी रहती है। और यह तो ज्ञात ही है कि द्विधा और आगा पीछा सोचने में पड़े रहने वाले

व्यक्ति में कितनी बेचैनी रहती है। दूसरी बात यह है कि प्रकृति में हमेशा हर हालत एक सी नहीं रहती। उसका उत्थान हुआ करता है।

उत्थान, बाजगश्ता यानी बराबर वापसी को कहते हैं। सिमटाव के साथ उत्थान बराबर होता रहता है, जैसे जागृति का सिमटाव स्वप्न में, और स्वप्न का सिमटाव सुषुप्ति में प्राकृतिक ही हुआ करता है। फिर सुषुप्ति से स्वप्न अथवा जागृति में उत्थान होता है। यह नित्य प्रति का कार्यक्रम है। इसी का नाम कालचक्र है।

तृप्ति और इच्छाहीनता की लगभग एक ही स्थिति है। इच्छा की तृप्ति को भोग और इच्छा की इच्छाहीनता को योग कह सकते हैं। जो योग है, वही भोग भी है। भोग रस लेने को कहते हैं, और योग रूप के मिलाप का नाम है। कर्म और ज्ञान अन्तिम सीमा में दोनों एक से हो जाते हैं। कर्म से हजारों कर्म पैदा होते हैं, और प्रारम्भ में इच्छा के गर्भ से असंख्य इच्छाएँ निकलती रहती हैं। इनके विषय में बिना समझे पड़ा रहना अन्धकार है, और जब कर्म करते करते और इच्छा उठाते उठाते अनुभव बढ़ जाता है और दिल की सफाई हो जाती है, तब ज्ञान की हालत आजाती है, और विवेक जागता है। तब रोशनी और प्रकाश का अवसर हाथ

आता है, और इच्छाहीनता में स्थिरता आजाती है। कर्म पहला (पूर्व) चरण और ज्ञान पिछला (उत्तर) चरण है। बिना सोचे समझे बात चीत का सिलसिला पहला चरण है; उसको 'मीमाँसा' कहते हैं। मीमाँसा दो हैं— एक पूर्व मीमाँसा (पहले ज्ञान की खोज), दूसरी उत्तर मीमांसा पिछले ज्ञान की खोज)। पहला कर्म है, किन्तु केवल वह कर्म जो वेद की व्यावहारिक वास्तविकता को जानने के प्रयत्न से सम्बद्ध हैं। यदि यह विचार है, तो वह पहली मंजिल है। और उत्तर मीमाँसा ज्ञान है, किन्तु केवल वह ज्ञान जो वेद की सैद्धान्तिक वास्तविकता जानने के प्रयत्न से सम्बद्ध है। यह पिछली मन्जिल है। जो इन को इस अर्थ में समझते हैं, वह धोखा नहीं खाते; और जो साधारण व्यापार और किसी इच्छा को सामने रख कर कर्म करते हैं, वह कर्म के बाद कर्म, और इच्छा के बाद इच्छा उठाते रहते हैं, और इनके अनवरत क्रम की उलझन में पड़ कर गन्तव्य से बहुत दूर जा पड़ते हैं। इसी प्रकार जो ज्ञान के उद्देश्य को जान कर बातों ही में या दलील, हुज्जत, बाद-विवाद तक ही अपने प्रयत्न को सीमित रखते हैं, वह भी बीच में खो जाते हैं, और वाचिक ज्ञानी बन कर न इधर के होते हैं और न उधर के।

कर्म आस्तित्व की अभिव्यक्ति का व्यावहारिक पक्ष हैं; ज्ञान अस्तित्व की अभिव्यक्ति का सैद्धान्तिक पक्ष है। यह दोनों पक्ष

अस्तित्व की दरमियानी कड़ी से सम्बद्ध हैं। यह दरमियानी कड़ी मनुष्य का हृदय है। यह हृदय ही अस्तित्व के स्थूल क्षेत्रमें अपनी धार को भेज भेज कर कर्म और अमल कराता है और उस की अभिव्यक्ति का प्रबन्ध करता हैं और यही हृदय अस्तित्व के सूक्ष्म क्षेत्र में धार को भेज भेज कर उसके ज्ञान का उत्तराधिकारी होता हुआ बीच या अधर में स्थित रहता है। जब तक वह ज्ञान और कर्म में पड़ा हुआ है तब तक दोनों का आनन्द प्राप्त करता है। यदि किसी ओर पूर्णतः मुड़ गया तो या तो वह इधर का हो रहा या उधर का, क्यों कि उस में स्थूल और सूक्ष्म दोनों स्तरों के प्रभाव और छाया उस में मौजूद हैं।

इस दिल (हृदय) को यदि ज्ञान और कर्म दोनों से हटा कर केवल सूक्ष्म स्तर पर स्थित होने की शिक्षा दी जाये,तो इस शिक्षा को 'उपासना' का नाम दिया जाता है। इस उपासना के परिणाम को सुख और शान्ति कह कर उसी को चरम लक्ष्य के रूप में स्थिर किया गया है। किन्तु इस उपासना में द्विधा का सुख है जो विश्वसनीय नही है। यह खराबी (दोष हैं। शरीर का स्थूल क्षेत्र पदार्थ (माद्दा Matter) के अत्यधिक परिवर्तन का स्थान है यहां से चित्र की वृत्ति बार बार हटायी जाती है और चूंकि सुख वृत्ति के एकाग्र होने और जम कर बैठने की दशा है अतः उसके हटने से दुख होता है। शारीरिकता के सम्बन्ध में यह दोष है। इस का सुख (१) ऊपरी (२) नाशवान (३) बेइख्तियारी (अपने वस-के बाहर) और (४) होश को बढ़ाता है (५) द्विधा में डालता है

निष्काम भक्ति

(कु० पुष्पा रानी सक्सेना)

को जानै को जैहै जमपुर, को सुरपुर परधाम को।
तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को॥

कौन कह सकता है कि स्वर्ग कौन जाता है और नर्क कौन जाता है, यदि संसार में चार दिन रहना है तो मुझे राम का गुलाम बनकर रहने में आनन्द है, ऐसा तुलसी दास जी का कथन है। वह सेवा भी बिल्कुल निःस्वार्थ होना चाहिए। उसके बदले में किसी प्रकार के भी फल की इच्छा न रखना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु आजकल तो कोई भी व्यक्ति यदि किसी का जरा सा भी कार्य कर देता है तो उसके बदले में किसी न किसी रूप में उसका स्वार्थ अवश्य ही सम्मिलित रहता है। यहाँ तक आधुनिक युग में ईश्वरोपासना भी निःस्वार्थ नहीं है। वह भी लोग स्वार्थवश ही करते हैं। यदि हम ईश्वर को सत्य ही प्राप्त करना चाहते हैं तथा उसका सेवक बनकर रहना चाहते हैं तो हमें अपने मालिक अर्थात् भगवान से उस सेवा के बदले में किसी प्रकार की इच्छा न रखना चाहिए। इसके विपरीत हम जो भी कार्य करें वह सब ईश्वरार्पण कर दें अपनी प्रत्येक करनी का फल भगवान से जोड़ दें तो यदि हमारे वे कार्य शुद्ध भावनाओं से पूर्ण तथा वास्तव में सेवामय होंगे तो वह सत्य ही यज्ञ के समान मान्य होंगे। हमें कार्य तो प्रत्येक करना हैं परन्तु उस कार्य के बदले में किसी प्रकार

की भी फलेच्छा नहीं करनी है तथा वह कार्य इस भाँति करें कि फल की इच्छा का प्रभाव (effect) मन के ऊपर रंचमात्र भी न पड़ने पाए। जिस प्रकार से अखरोट के वृक्ष का वृक्षारोपण करने वाला व्यक्ति शायद ही अपने जीवन में उन फलों का स्वाद पाता है। क्योंकि अखरोट का वृक्ष २५ वर्षों के उपरान्त फल देता है। किन्तु फिर भी फलों के खाने की इच्छा को त्याग करके वृक्ष लगाना है तथा उसे सप्रेम पानी देना है अर्थात् सींचना है।

जब हम अपना प्रत्येक कार्य ईश्वरार्पण कर देंगे तो यदि हमारे उन कार्यों में दोष रह भी जाएंगे, वह उस परम प्रभु के सम्पर्क में आते ही शुद्ध हो जाएंगे। हम अपने में स्थिति दोषों को दूर करने का चाहें कितना ही प्रयास क्यों न करे फिर भी कुछ न कुछ दोष तो शेष रह ही जाते हैं।

बुद्धि परमेश्वर की देन है इसलिए उसे जितने शुद्ध रूप में प्रयोग में ला सकें लाएं। मन में उत्पन्न होने वाली कामनाएं, क्रोध, लोभ आदि विकारों को भी ईश्वरार्पण कर देना है।

हमें ईश्वर प्राप्ति के लिए किसी जंगल गुफा अथवा पर्वत पर जाने की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती। हम जहाँ जो भी कार्य करें उसका सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ दें। अर्थात् ईश्वरार्पण कर दें मन आप ही निर्मल व शुद्ध हो जायगा यदि हम ऐसी भावना बना लें कि हमारे सभी कार्य सेवामय हैं तथा वह सेवा ईश्वर की ही सेवा है तो हमारे कार्यों में कितना अन्तर हो जाय। जैसा कि घर आये हुए अतिथि का आदर सत्कार भगवान रूप

समझकर करना, दरवाजे पर आये हुए भिक्षुक को भगवान रूप समझकर भिक्षा देना आदि। प्रत्येक कार्य ईश्वरार्पण कर देने से जीवन में एक आश्चर्यजनक शक्ति आ जायगी।

पुराणों में एक कहानी आती है जो इस प्रकार है:—
एक बुढ़िया थी। वह जो भी कार्य करती थी वह सब कृष्ण जी को अर्पण कर देती थी! यहाँ तक चौका लीपने के बाद बचे हुए गोबर को, तथा घर के सारे कूड़ा करकट को भी कृष्णार्पणमस्तु कहकर बाहर फेंक देती। परिणाम क्या होता कि वह सारा कूड़ा मन्दिर में जाकर कृष्ण जी की मूर्ति पर गिरता। मंदिर का पुजारी मूर्ति साफ करते २ परेशान था अंत में पता चला कि यह सारी करामात इस बुढ़िया की है जब तक इसकी मृत्यु नहीं हो जाती मूर्ति का स्वच्छ रहना असंभव है। जब बुढ़िया के मरने का समय आया तो उसने मृत्यु को भी कृष्णार्पण कर दिया परिणाम स्वरूप मंदिर में स्थित कृष्ण जी की मूर्ति के टुकड़े २ हो गए। अब बुढ़िया को लेने के लिए स्वर्ग से विमान आया उसने उसे भी कृष्णार्पण कर दिया वह विमान भी टुकड़े २ होकर बिखर गया।

उपर्युक्त कहानी कहां तक सत्य हो सकती है कहा नहीं जा सकता किन्तु यह ईश्वरार्पण का एक नमूना है। सारांश यह कि जो भी कार्य अपने से हो सके उन सबको ईश्वरार्पण करने से उन कार्यों में कुछ और ही शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस लिये हमें चाहिए कि हम तन, मन, वचन से ईश्वरोपासना में लग जायें तथा अपने सारे कर्म उसे अर्पण करते चलें। यदि हम इस भावना

को अधिकाधिक दृढ़ बनाते जाएंगे। तो हमारा शुद्ध जीवन दिव्य हो जायगा, मलिन जीवन सुन्दर बन जायगा।

कार्यफल की इच्छा न रखते हुए भी उस कार्यफल को यूँही न फेंककर उसका सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ देना श्रेष्ठ है। जिस तरह से फेंका हुआ यूंही नष्ट हो जाती है किन्तु बोया हुआ कई गुना होकर मिलता है। इसी लिए हमने जो कर्म ईश्वरार्पण कर दिये हैं उन्हें बोया हुआ ही समझें। इससे जीवन में अपूर्व आनन्द भर जायगा अपार पवित्रता छा जायगी।

पत्र

(श्री रामदास गुप्ता तिनसुकिया आसाम)

परम पूज्यनीय श्री बाबूजी, आदरणीय भाइयों एवं बहनों

आज जब हमारे देश में स्वामी विवेकानन्द जन्म-शताब्दी मनाने की धूम है। हमारा ध्यान बरबस ही तेजपुँज श्री लाला जी के जन्मोत्सव की तरफ आकर्षित होता है। इस पुण्य-भूमि के जन जीवन में जब जब अधार्मिकता आई ईर्ष्याद्वेष तथा वासनाओं का प्राबल्य हुआ तब तब किसी न किसी महान आत्मा का अवतरण हुआ जिसने लोगों को घोर निद्रा से जगाया। उठो और जागो का संदेश दिया। ऐसे ही मनीषियों में हमारे एक पूज्य लाला जी भी थे। उन्होंने पीड़ित मानव को देखा दयाद्र हो उठे। जागो और उठो से भी एक कदम आगे बढ़कर लक्ष्य तक पहुँचने

का संदेश दिया। सन्देश ही नहीं बल्कि बहुतों को लक्ष्य तक पहुँचाया, पहुँचाने में मदद दी और पहुँचा भी रहे हैं।

ऐसे समय जब गृहस्थ जीवन को रोजी रोटी की समस्या ही प्रमुख रही, आत्म-खोज से विरक्त से रहे ईश्वर प्राप्ति के सर्वश्रेष्ट मार्ग राजयोग को सिर्फ साधु सन्यासियों की ही चीज समझने लगे ऐसी ही तिमिराछन्न स्थिति में उसी कठिन साध्य राजयोग को वैज्ञानिक शोध द्वारा अत्यन्त सरल एवं सुबोध बनाकर उसी गृहस्थ जीवन को अर्पित किया तथा बतलाया कि इसका प्रयोग करो लेकिन जीवन को सुखी करने के साथ ही जीवन के परम लक्ष्य को भी प्राप्त करो। उनकी इस अनुपम देन को आध्यात्मिक जगत कभी नहीं भूल सकता हमारी भावी पीढ़ी सादर इस प्रेणता को स्मरण करती रहेगी।

सारे देवी देवता मेवा निष्ठान्न से प्रसन्न होते हैं। लेकिन हमारे ये देवता हमारी सारी कालिमा, कलुषितः, कुसंस्कार को ही ग्रहण कर प्रसन्न होते हैं। ऐसी महानता क्या कहीं आपको देखने को मिली। धन्य थे वे महापुरुष जिनकी हम आज जन्म तिथि मनाते हैं।

हम अपने आलस्य तथा सारी शंकाओं का परित्याग कर एकनिष्ठ व दृढ़ प्रतियज्ञ होकर उनके निर्देषित मार्ग पर अग्रसर हो तभी इस पुन्य जन्म तिथि मनाने की सार्थकता भी है। अन्त में हम उन योगश्रेष्ट को अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। साथ ही यह प्रार्थना है कि हमें अपने तेज से सदा ओत प्रोत रखे ताकि हम अपने मार्ग में अवाध गति से दिनों दिन अग्रसर होते रहें। जय श्रेष्ट

खुदा और नाखुदा

(श्री मुसाहिब राय शाहबादी)

यह दुनियाके जो झगड़े हैं, यह सब ज्यों-ज्यों बदलते हैं।
यकीं* समझो यकीं मानों कि हम कुछ-कुछ बदलते हैं॥
तेरे रहमो-करम से है[1] बदलती जामए हस्ती[2]।
मोहब्बत के यह जज्बे हैं बड़ी मुश्किल से मिलते हैं॥
चली आती है खुशबू हक़[4] की तेरे पाकदामन[5] से
बना देती है फिर उनको जो बन-बन कर बिगड़ते हैं॥
निगह जा करके ठहरी आरजूए[6] कूए[7] जाना[8] पर।
हमारे हजरते[9] दिल भी खमोशी से मचलते हैं॥
यह कुदरत[10] के मनाजिर[11] हैं सुबह और शाम होती है।
कभी सूरज निकलता है कभी तारे चमकते हैं॥
खुदी[12] मिटते ही आती बेखुदी यह राजे-फितरत[13] है।
खुदा और नाखुदा[14] दोनों बड़ी मुश्किल से मिलते हैं॥
हक़ीक़त[15] ही हक़ीक़त सामने है तेरी नजरों[16] के।
यही रोशन-जमीरी[17] है इसी को नूर[18] कहते हैं॥
मजामीने[19] सहज-मार्ग से मिलती है शान्ति हमको।
सदाक़त[20] और हक़ीक़त से भरे मजमूं[21] निकलते हैं॥
तेरी शाने-मोबल्ला[22] की न होवे खाम-फरसाई[23]।
मुनासिब[24] अब नहीं तूले-सखुन[25] "अखतर" समझते हैं॥

---

*विश्वास १. कृपा दृष्टि २. शरीर रूपी वस्त्र ३. उभार ४.

*विश्वास १. कृपा दृष्टि २. शरीर रूपी वस्त्र ३. उभार ४. वास्तविकता ५. पवित्र वस्त्र ६. इच्छा ७. गली ८. प्रियतम ९. श्रीमान् १०. प्रकृति ११ दृश्य १२. अहिंसा १३. प्रकृति का रहस्य १४. मल्लाह अर्थात् गुरु १५. वास्तविकता १६. दृष्टि १७. प्रकाशित हृदय १८. ज्योति १९. लेखों से २०. सत्य २१. लेख २२. महान महिमा २३. लिखना २४. उचित २५. अधिक बढ़ाकर लिखना।

मनुष्य आज क्या करे ?

(जगदीश प्रसाद अग्रवाल बी० ए०)

मनुष्य को जब अपनी चेतना के प्रति चेतना जागृत होती है उस समय दो विचारधारायें मिलती हैं। एक विचारधारा तो स्वयं चेतना के विषय में सोचने की कही जा सकती है और दूसरी विचारधारा इस चेतना शक्ति के उपयोग के विषय की है। चेतना पर सोचना, जिसमें मैं पन (अपने आप का जीवित होने का भाव) शामिल है, अपने ऊपर ही सोचना हो जाता है कि मैं कौन हूं ? मैं इस सोचने की धुन में हम उस शक्ति का मनन मनुष्य, पृथ्वी इत्यादि से लेकर सारे ब्रह्माण्ड का सृजन करती है। परन्तु इस विषय पर सोचने के सिवाय हम और कुछ भी नहीं कर पाते। हमारे अन्दर इस कौतूहल का हो जाना स्वाभाविक ही है कि आखिर मानव जीवन की हरकतों के पीछे क्या राज हो सकता है ? यह सृष्टि कब निर्मित हुई और कब तक बनी रहेगी ? यह समूचा

ब्रह्माण्ड क्यों और किस जगह अवस्थित है ? हमारी यह रहस्यमई पृथ्वी सूर्य, चन्द्र और तारे जिस विस्तार में फैले हुए हैं वह विस्तार क्या है ? इस विस्तार का कहीं आरम्भ या अन्त है भी या नहीं ? हम क्यों और कहाँ हैं ? यह विषय निःसन्देह बड़े कौतूहल का है। परन्तु इन सभी समस्याओं को जितना भी हम सुलझाव देने का प्रयत्न करते हैं, हमारे समझ में उतनी ही नई उलझनें और पैदा हो जाती हैं। अभी हम एक पहेली सुलझा ही नहीं पाये कि इसी सुलझाव में हजार नई पहेलियाँ और आकर उलझ गईं। परन्तु हम यही जिन्दगी भर सोचते रह जाते हैं कि यह पहेलियां क्यों उत्पन्न होती हैं ?

समस्त सृष्टि का कण-कण हजार-हजार प्रश्नों को लिये खड़ा है। जिधर भी देखते हैं प्रश्न ही प्रश्न नजर आते हैं, उत्तर किसी का नहीं मिलता। हमारी बेचैनी बढ़ जाती है और हम अशान्ति का अनुभव करते हैं। उत्तर प्राप्ति की प्यास से हम पागल हो उठते हैं और बुद्धि का सहारा लेकर प्यास बुझाने के लिये जितनी दौड़ धूप कर सकते हैं करते चले हैं। किन्तु प्रत्येक पहेली का उत्तर हमें एक उलझाव के रूप में ही मिलता है। मनुष्य जिस बुद्धि से किसी समस्या को सुलझाता है उसी बुद्धि से वह उलझा भी देता है। बुद्धि जिस वस्तु को सुलझाकर मनुष्य में संतोष प्रदान करती है वही उसे उलझाकर मनुष्य में असन्तोष भी पैदा कर देती है। जो बुद्धि आदि-काल में नंगे रहने वाले मनुष्य के पास थी वही बुद्धि विकसित होकर आज हमारे पास है। जो बुद्धि सूर्य को भगवान की एक भूजा कहती थी वही बुद्धि आज सूर्य को

एक बड़ा अग्नि का गोला-पिण्ड मानती है। जब बुद्धि का स्वभाव ही विकसित होते रहने का है तो इसके द्वारा किये गये किसी भी निर्णय पर हमारा सन्तोष कब तक टिका रह सकता है और हमें यह कैसे विश्वास हो सकता है कि आज के युग की विकसित बुद्धि सारी प्रकृति को समझने के लिये पर्याप्त ही है। यह भी तो हो सकता है कि प्रकृति ने जितनी बुद्धि मनुष्य के लिये स्वीकार की हो वह सारी प्रकृति को एक साथ समझ लेने के लिये काफी न हो और जब तक समूची प्रकृति को एक साथ (As a whole) समझ नहीं लिया जाता तब तक इस पर उठने वाले विभिन्न प्रश्नों के उत्तरों को ढूंढना और फिर उन विभिन्न उत्तरों में एक सामंजस्य की स्थापना करते हुए समूची प्रकृति को समझने का प्रयत्न करना मानवीय शक्ति के परे का ही कार्य कहलायेगा।

मनुष्य 'प्रकृति-को-पूर्णता' के वास्तविक स्वरूप से अनिज्ञ इसके होकर किसी 'अपूर्ण-स्वरूप' को 'पूर्ण-स्वरूप' मान लेता है और तभी उसके आधार पर अपना निर्णय देने में सदैव धोखा खा जाता है हम बुद्धि से प्रकृति के समूचे स्वरूप (As a whole) का अवलोकन नहीं कर पाते अथवा प्रकृति के सभी नियमों और परिस्थितियों से अवगत नहीं हो पाते तभी हमारा प्रकृति पर किसी भी प्रकार का दिया गया निर्णय भले ही कुछ समय के लिये सन्तोष प्रदान करता हो पर बाद में हमारे मस्तिष्क में फिर वही हलचलें पैदा कर देता है ? वास्तव में बुद्धि द्वारा हमारा अनुमान उन्हीं परिस्थितियों में ठीक होता है जिन परिस्थितियों का अध्ययन कर हम अनुमान करते हैं। यदि हम यह कहते हैं कि 'मनुष्य

मरणशील है' तो हमें यह मानना पड़ता है कि अमुक परिस्थितियों अथवा अवस्थाओं के रहते मनुष्य मरणशील बना रहता है। यदि बहुत आगे चलकर ये परिस्थितियाँ प्रकृति ने बदल दीं तो हमारा ऐसा कहना गलत हो जायेगा। यह इसलिये होता है कि हमारी बुद्धि हमें यह विश्वास दिलाने में असमर्थ हो जाती है कि और ऐसी नई परिस्थितियाँ नहीं हैं जो आगे चलकर हमारे कथन को झूठा सिद्ध कर सकें। यह बुद्धि तो हमको स्वयं प्रकृति द्वारा उपलब्ध हुई है और हम उसी प्रकृति के नियमों पर नाचते हुए सारी बुद्धि प्रकृति को समझने में लगा देते हैं। प्रकृति की यह लीला कितनी विचित्र है। अति प्राचीन काल में भी मनुष्य पहाड़ों की कन्दराओं से सिर निकाल कर अपनी फटी-फटी आँखों से सूर्य को निकलते और डूबते देखता था आज के समय में भी मनुष्य बत्तीसवीं मंजिल पर बैठा सूर्य को उसी प्रकार अपने काम में रत निहारता है युग बदल गया और उसके साथ साथ हमारे विचार भी करवटें लेते-लेते बदल गये। आज मनुष्य के विचार और काम करने के साधनों ने एक दूसरा ही रूप ले लिया है, हमारे हर दृष्टिकोण आज पलट गये हैं परन्तु आज भी हम प्रकृति को उसी प्रकार स्वच्छंद रूप से अपने काम में मग्न देखते हैं। आज भी हमारे सामने सारा का सारा विश्व वैसी ही एक पहेली बना हुआ है। प्रकृति ने जो कुछ भी हमें शक्ति प्रदान की उसे लेकर हमने बहुतेरे हाथ पैर पटके, बहुतेरे छटपटाए, लाख प्रयत्न किये पर हम स्वतंत्र प्रकृति के किसी काम में हस्तक्षेप नहीं कर सके। हम प्रकृति के किसी काम में अपना दखल नहीं दे सके, न हम उसकी गति में कोई बाधा डाल सके। वह तो सदैव ही अपने इरादों

पर दृढ़ रहती है और अपनी मनमौजी प्रकृति पर किसी का वश नहीं चलने देती है। प्रकृति ने महान तार्किकों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, धर्मात्माओं, संतों, ऋषियों, और बड़े बड़े दुष्टों एवं अत्याचारियों को जन्म दिया और फिर उन्हें अपनी शक्तियों का विभिन्न प्रकार से व्यवहार करने का अवसर प्रदान करते हुए अपने आंचल में न जाने कहाँ विलीन कर लिया। प्रकृति की यह गति कितनी रहस्यमयी है। मनुष्य की बुद्धि इसे सोचकर हताश हो उठती है।

ऐसी दशा में मनुष्य थकावट अनुभव करता है और 'चेतना' के विषय में सोचना छोड़कर वह चेतना की क्रिया प्रतिक्रिया पर ध्यान देता है। अब वह अपनी बुद्धि को उस प्रेरणा को समझने में लगाता है जिसमें उसकी चेतना उसे कुछ करने को विवश कर रही है। मनुष्य अब समूची प्रकृति के रहस्यों के पीछे किसी अज्ञात शक्ति का हाथ मानकर अपनी बुद्धि का सहारा लेता हुआ उन कामों को करता चला जाता है जिन्हें करने के लिये वह प्रेरित होता है। वह विश्व के विषय में नहीं सोचता बल्कि विश्व को आमों का वह विस्तृत बगीचा समझता है जिसमें प्रवेश करने पर आमों के पेड़ नहीं गिने जाते बल्कि आमों को चखा जाता है। मनुष्य अब प्रकृति को बच्चों का वह खिलौना मानता है जिसकी प्रत्येक हरकत एवं रंगीनी बालक के हृदय को खुशी से नचा देने के लिये काफी होती है। अब धरती पर एक सुन्दर से सुन्दर जिन्दगी सजाना चाहता है और फिर वैसी ही दूसरों को सिखाना चाहता है। हम सोचते हैं क्यों न मनुष्य अपनी सारी बुद्धि उन तरीकों

को ढूंढने में लगाए जिनपर चलकर वह एक आनन्द भरा जीवन व्यतीत करे ? क्यों न मनुष्य अपनी सारी शक्ति उन भावनाओं में केन्द्रित करे जो मानव-सुलभ हों ? क्यों न हम इस सारे विश्व को, जो अगाध सौंदर्य और सुखों का भण्डार है, एक ऐसा स्थल बनाएं जिसमें जीवन यापन करके प्रत्येक नर-नारी के मुँह से बरबस यह फूट पड़े- "भगवान के हम बड़े कृतज्ञ हैं कि उसने हमें इतने सुन्दर और मधुर विश्व में जीवन बिताने का अवसर दिया।" लेकिन क्या यह इच्छा कभी पूरी हो सकती है ? हम यह अनुमान कर सकते हैं कि आज का युग जिन परिस्थितियों में उलझ गया है उसमें यह इच्छा सफल हो सकेगी ? आज मानव-जीवन जिस असन्तुलता की ओर बढ़ रहा है उसको देखकर ऐसी इच्छाओं का बनाना क्या पागलपन नहीं होगा ? कवियों ने, साहित्यकारों ने राजनितिज्ञों, दार्शनिकों ने निःसंदेह मानव जीवन की विषमताओं को भुला कर उसके स्थान पर मधुर जीवन यापन कराने का प्रयत्न किया, परन्तु क्या यातनाओं की चक्की में पिसने वाली मानव जाति इनके दिग्दर्शित मार्ग पर चलकर निश्चिंत रूप से सुख-पूर्ण साँसें ले सकी हैं क्या आज मानव उस वातावरण में सांस नहीं ले रहा है जो तनाव और विकृतियों से भरा हुआ है ? क्या आज हम शाँति का अनुभव कर रहे हैं ? यद्यपि मानव को उन साधनों की उपलब्धि हुई है जिनके द्वारा वह अपने दीन जीवन को सुधार सके, मानव को उसके ऐसे ऐसे अधिकारों का दिग्दर्शन कराया गया जिसको अपनाकर वह अपने हृदय में स्वतंत्रता का अनुभव करे। लेकिन इन सबको पाकर भी क्या आज मानव की जिन्दगी मुस्करा रही है ? क्या आज हम अशान्ति

के कारण हाहाकार की आवाज सारे विश्व के वातावरण में नहीं सुन रहे है ? इसे सुनकर क्या हम यह नहीं कह सकते कि आज मानव अपनी पहली विपदाओं के जाल से छूटकर विषमता के जाल में उलझ गया है। वास्तव में युग-द्रष्टाओं के प्रयत्नों से मानव-जाति हमेंशा एक विषमता से बचकर दूसरी यातनाओं की चक्की में पिसती रही है।

किन्तु मानव मष्तिष्क यदि इन उलझी गुच्छियों से किनारा करके एक सीधे से सहज-मार्ग की राह पकड़ ले तो वे तमाम विचार जो उलझनों में फंसाने वाले हैं उत्पन्न ही न हों बल्कि उनके स्थान पर 'ईश्वर'-प्राप्ति की तड़प (Universal love) की ज्योति से हमारा अभिअंतर जगमगा उठे। यदि हम अंधेरे में रहने की आदत छोड़ दें तो प्रकाश हमें अवश्य ही मिलेगा। इसी प्रकार हम एक से दूसरी गुच्छियों में उलझने की बात को यदि ईश्वर-प्राप्ति के लक्ष्य को सुदृढ़ विचार से झटक कर तोड़ दें तो फिर वहाँ सीधा सहज-मार्ग का अपार आनन्दमय विस्तृत-क्षेत्र ही दृष्टिगत होने लगेगा। इसलिये कुछ भी हो हमें आज उस शक्ति को जो हमें 'ईश्वर' अथवा प्रकृति द्वारा प्राप्त हुई है उसको परम पवित्र सहज-मार्ग द्वारा ईश्वर प्राप्त की ओर उन्मुख कर दें जिससे हम जन्मजन्मान्तरों की जटिलताओं एवं बंधनों को सद्-गुरु की पावन प्राणाहुति (Trans mission) द्वारा तोड़ कर परम स्वतन्त्र होसकें। तभी मानवजीवन को स्वर्ग बनाने के लिये हमारे साहित्यिक एवं राजनैतिक विचारों को इतनी शक्ति प्राप्त हो सकेगी जो बड़ी ही दृढ़, एवं अकाटय होंगी। आज मानव का यही पवित्र एवं मुख्य कर्त्तव्य है।

कामना

(कु० पुष्पा रानी सक्सेना)

आज के युग में मनुष्य पूर्ण रूप से कामनाओं के दासत्व में जकड़ा हुआ है, यह जानते हुए भी कि कामनाओं के पराधीन होकर वह कभी भी उस सुख की अनुभूति नहीं कर सकेगा जिसे कि वास्तविक सुख कहते हैं। अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति का सुख जो कि सभी सुखों में श्रेष्ठ है। किन्तु आज के संसारिक मनुष्य कामनाओं के वशीभूत होकर उस पारलौकिक सुख की विस्मृति कर बैठे हैं। यदि कभी उनका मन उस सुख की ओर आकृष्ट भी होता है तो यही कामनाऐं उनके मार्ग में बाधा उत्पन्न कर देती हैं। यह बाधाऐं उन्हीं मनुष्यों के सम्मुख उत्पन्न होती हैं जो कामनाओं के पूर्णरूप से दास होते हैं। इसकी अपेक्षा जो कामनाओं के दास नहीं होते हैं वे उस 'परम सुख' को प्राप्त करने की अनवरत चेष्टा किया करते हैं और एक दिन ऐसा आता है जब कि उस सुख को प्राप्त कर पूर्ण मानव बन जाते हैं।

सारांश यह कि जब तक कोई भी मनुष्य स्वयं को कामनाओं से मुक्त नहीं कर लेता है तब तक उस आदि शक्ति परमेश्वर को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकता। कामनायुक्त मनुष्य का जीवन निराश एवं कालिमा से पूर्ण होता है। क्योंकि वह वर्तमान में जिस सुख की कल्पना करता है यदि वह उसे प्राप्त नहीं कर पाता तो वह उन कामनाओं के वशीभूत होकर उस सुख की प्राप्ति के लिए कोई भी अमानुषिक कार्य करने में नहीं हिचकता। उसके मन

के अनुकूल सुख की प्राप्ति हो गई तो उसमें उसके प्रति अपनत्व की भावना जागृत रहती है और यदि मन के प्रतिकूल कोई कार्य हो गया तो द्वेष उत्पन्न होता है। इन्हीं राग-द्वेषों के झगड़े में फसकर उसके अनेको कार्य अपराधों के रूप में परिणित होकर पाप का रूप धारण करते जाते हैं।

जिस प्रकार से कोई व्यक्ति बहुत बार बहुत सी अपनी इच्छित वस्तुओं के प्राप्ति की कामना करता है किन्तु वह उन्हें प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाता, उनकी अपेक्षा बहुत सी अप्रिय वस्तुएं जिनकी कभी स्वप्न में भी वह कल्पना नहीं करता उसके समक्ष आ उपस्थित होती हैं जिससे कि मानवता का शत्रु क्रोध का प्रगट होना अवश्यम्भावी है दूसरे शब्दों में जिसका नाम है दासत्व अथवा अविवेक। मानव शरीर स्थित मन, प्राण, बुद्धि इन्द्रियां आदि सब मोक्ष प्राप्ति में सहायक हैं यदि उन्हें उचित रूप से प्रयोग में लाया जाय तो। इन्हीं से यदि अनुचित कार्य लिये जाय तो यही नर्क का द्वार बन जाती हैं। जो व्यक्ति इन्द्रियों के दास न बनकर स्वयं इन्द्रियों को अपना दास बना लेते हैं वही महामानव अथवा जीवन मुक्त कहलाते हैं और जो व्यक्ति इन्द्रियों के दासत्व में ही सुख समझते हैं तथा उन्हीं के अनुसार अपना जीवनयापन किया करते हैं वह जीवित ही मृत के समान हो जाते हैं।

किन्तु आज के मानव की कामनाऐं भी अपरिमित है वह जितना ही उन्हें त्यागने का प्रयास करता है वह उतनी ही बढ़ती जाती हैं जिसके परिणाम स्वरूप वह आजीवन उन्हीं कामनाओं को

ही पूर्ति में लगे रह जाते हैं। कोई भी व्यक्ति किसी को एक अच्छा वस्त्र पहने देखता है तो उसका भी मन वैसा ही वस्त्र पहनने को लालायित होने लगता है। यह भी एक प्रकार की कामना ही हुई। अब प्रश्न यह उठता है कि उस वस्त्र को देखकर उसके मन में यह कामना उत्पन्न ही क्यों हुई? सर्व प्रथम हमारी आँखों ने उस वस्त्र को देखा आँखों को वह भला लगा, अब जिसका असर मन पर हुआ और मन ने जोर मारा कि उसके लिए भी वैसा ही वस्त्र होना चाहिए। यदि वैसा ही वस्त्र प्राप्त हो गया तो मन शान्त हो जाता है और यदि न प्राप्त हुआ तो एक प्रकार की झुंझलाहट सी उत्पन्न होती है यही झुंझलाहट एक संस्कार का रूप धारण कर लेती है जिसका उसे कभी न कभी किसी न किसी रूप में इसी जीवन में भोग करना पड़ता है।

इसलिए जब तक वह अपनी कामनाओं को कुवृत्तियों की ओर से हटाकर सद्वृत्तियों की ओर नहीं लगाऐंगे तब तक उस प्रभू की ओर आकृष्ट हो सकने में समर्थ नहीं हो सकेंगे जिसने उसे इस धरणी पर सत्कार्य करने के लिए अवतीर्ण किया है। इसलिए उसकी कामना तो भगवद्भक्ति के लिए ही होनी चाहिये क्योंकि ईश्वर प्राप्ति का सुख ही सभी सुखों में श्रेष्ठ है। राज्य सुख से ऊबे हुए कृष्ण गढ़ाबीश श्री नागरीदास जी कहते हैं:-

कहा भए नृपहूँ भए ढोबत जग बेगार।
लेत न सुख हरि भगति को सकल सुखेन को सार॥

यह कितना अच्छा हो कि व्यक्ति अपनी सभी कामनाओं का परित्याग कर केवल भगवद्भक्ति की कामना ही शेष रखें।

किन्तु ऐसा करने में वह तभी सफल हो सकेंगे जब कि मन को पूर्ण रूप से अपने इष्ट में लगा देंगे क्योंकि मन के द्वारा ही अच्छाइयों एवं बुराइयों का सृजन होता है। क्योंकि मन में जैसी कामना उत्पन्न होती है वैसा ही मानव शरीर स्थित इन्द्रियाँ करती हैं। वह यह नहीं सोचतीं कि यह कार्य करने से हानि होगी अथवा लाभ? जिस प्रकार से कोई व्यक्ति किसी के घर जाता है वहाँ पर उसके सम्मुख खाने के लिये ऐसी वस्तु आती है जिसके खाने से वह जानता है कि हानि ही होगी लाभ नहीं किन्तु कामनाओं के दासत्व में जकड़े होने के कारण वह सोचता है होगा आज खालें कल से नहीं खाएगें। यहां पर मुझे एक दृष्टांत याद आता है कि एक स्त्री रोज अपने पति से कहती "स्वामी मुझे अपने भाई की बहुत चिन्ता है वह प्रतिदिन सन्यासी होने को कहा करता है धीरे २ सारे व्यसन आदि छोड़ रहा है।" पति ने उत्तर में कहा, "प्रिये ऐसे वह कभी भी सन्यासी नहीं हो सकेगा।" पत्नी ने कहा सो कैसे? फिर सन्यासी कैसे हुआ जाता है?" पति ने कहा अभी बताता हूँ। और उसने जो अंगरखा पहन रखा था उसे बीच से फाड़ लगोटी पहन कर बोला आज से तुम व दूसरी स्त्रियाँ मेरे लिये माता के समान हो।" तथा उसी समय से गृह त्याग दिया।

सारांश यह कि जो व्यक्ति विवेकी हो जाते हैं तथा जिनको समझ में आता है कि यह कामनाऐं त्याज्य हैं वह उन्हें एक दम से छोड़ देते हैं इसके विपरीत जो सोचते ही हैं कि यह कामनाऐं तृष्णाऐं बुरी हैं इन्हें छोड़ देना चाहिये। वह आजीवन उसी तर्क

वितर्क में फंसे रहते हैं और कभी उनसे छुटकारी नहीं पाते। यदि हमारी कामनाएं राजसी और तामसी न होकर सात्विक हों और अपना कोई लगाव उनसे न रहे तो वही हमारे जीवन को सुन्दर प्रभुमय बनाने में समर्थ हो सकती हैं। किसी महापुरुष का कितना सरल एवं स्पष्ट कथन है कि जब तक हम कामनाओं के दास बन कर रहेंगे तब तक जगत के ही रहेंगे जगत्पती के नहीं। अर्थात् उस प्रभू का जिसने ८४ लाख योनियों के बाद मानव योनि प्रदान की है उसी का अनुग्रह नहीं प्राप्त कर सकेंगे।

एक बहुत बड़े सूफी साहब ने लिखा है:-

हर तमन्ना दिल से रुखसत् हो गई।
अब तो आजा अब तो खिलवत हो गई॥

और फिर आगे कहा है:-

मुझको दुनियाँ की कुछ खबर ही नहीं
होश इतना है कि प्यार तुमसे है।

वास्तव में उपर्युक्त लिखित सूफी साहब के दोनों शेर इस बात के समर्थक है कि मन को सब ओर से मोड़ कर केवल अपने इष्ट की ओर ही लगाना चाहिए। रुहानियत की बहुत सी मंजिलें तय करने के बाद अभ्यासी इस मंजिल पर आते हैं। परन्तु इसके बाद भी बहुत कुछ शेष रह जाता है। कामना से यहाँ भी छुटकारा नहीं प्राप्त हो सका क्योंकि उस प्रियतम से मिलने की कामना तो शेष ही रही उससे प्यार करने का होश भी शेष रहा।

हमारे श्री रामचन्द्र मिशन के प्रधानाचार्य, श्रद्धेय श्री बाबू जी का कथन है कि "अभ्यासी को निरन्तर अपने इष्ट की ही स्मृति

में लगा रहना चाहिए और यह अवस्था इतनी गहरी होनी चाहिए कि उस स्मृति को भी स्मृति शेष न रहे।" हमारे श्रद्धेय श्री बाबू जी का संसार पर कितना बड़ा उपकार है जिन्होने हमारे मिशन की केवल चार पंक्ति की दैनिक प्रार्थना में समस्त अध्यात्म-विद्या का हम सबको दिग्दर्शन कराया है। जिसकी दूसरी पंक्ति है:-

हमारी इच्छाएं हमारी उन्नति में बाधक हैं।

हमारे मिशन के संचालक समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज फतेहगढ़ ने निम्न शब्दों में कहा है:-

तर्क दुनियां, तर्क उक़बा, तर्क मौला तर्क तर्फ।

मेरी तुच्छ बुद्धि के अनुसार यही दशा अखंड समाधि की दशा है। मैं अपने श्रद्धेय श्री बाबू जी से विनम्र निवेदन करूंगी कि वह हमारे सभी सत्संगी भाइयों, माताओं एवं बहनों को तथा अन्य अभ्यासियों को भी जिनके हृदय में ईश्वर प्राप्ति की तड़प मौजूद है इस दशा तक पहुँचाने की कृपा करें।

सहज मार्ग ही भक्ति का सच्चा साधन !

(गुंडेराव पटबारी नागवारकर "साहित्य रत्न")

धर्म की अनेक व्याख्यायें हैं वास्तव में वेद का धर्म और उसकी परिभाषा संसार के महान् दर्शन शास्त्रों के विचारों के अनुसार वैज्ञानिक है!

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः
यत्स्या द् धारण सयुंक्त सधर्म इत्यु दाहृतः।

धर्म और भक्ति का जहाँ तक सम्बन्ध है दोनों अलग-अलग वस्तुओं के नाम हैं ! धर्म उसकी व्याख्या उसका कार्य तथा उसका उपभोग अलग है, भक्ति उसकी व्याख्या उसका कार्य तथा उसका उपभोग अलग है ! मनुष्य सामाजिक प्राणी है, मनुष्य को केवल अपना ही नहीं समाज का हित भी देखना चाहिए, उस समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए जिन नियमों की आवश्यकता है वह धर्म है ! भक्ति अलग है ! भक्ति धर्म से कुछ श्रेष्ठ वस्तु है, जब मनुष्य भक्ति द्वारा अपने आत्मा की उन्नति को पहचान कर तुलसी तथा मीरा की तरह अपने अस्तित्व को भूल जाता है, वहां धर्म उसके आधीन हो जाता है। यदि सत्य ही धर्म समझ लिया जाय, तब धर्म ईश्वर का रूप हो जाता है, वह सर्वत्र है जब तक समाज धर्म को सत्य का रूप नहीं समझता तथा उसकी शरण में नहीं जाता तब तक न समाज सुधरता है और न मनुष्य।

मैं सहज मार्ग का एक साधक हूँ, मुझे धर्म की अपेक्षा भक्ति की ओर अधिक ध्यान देना है, तथा मेरे मतानुसार धर्म, भक्ति के आधीन है।

मेरे एक मित्र ने मुझसे प्रश्न किया, जो सहज मार्ग में प्रथम आया था कहने लगा कि "सहज मार्ग में भक्ति को क्या स्थान प्राप्त है" मैंने उत्तर दिया भाई दूसरों की बात तो मैं नहीं कह सकता सहज मार्ग में रहकर शायद दूसरे कुछ विचार करते होंगे पर मैं तो यही समझता हूँ कि "भक्ति" सहज मार्ग का प्राण है।

आत्मोन्नति द्वारा परमात्मा की प्राप्ति गुरू रामचन्द्र द्वारा

उसकी सहायता परमात्मा के प्राप्ती का महान साधन है। हाँ इसके साथ एक और वस्तु की आवश्यकता है और वह है हृदयं हृदय में प्रेम उत्पन्न होकर जब मनुष्य उसको स्वच्छ अथार्थ प्रेम को बढ़ता हुआ अपना सर्वस्व परमात्मा को अर्पण करता है, तब वह सच्चा भक्त बनता है, तथा उसका यह मार्ग श्रेष्ठ है।

सहज मार्ग को भक्ति का सच्चा साधन क्यों समझना चाहिए ?

इस उत्तर के लिए सबसे पहले अपने हृदय को टटोलना आवश्यक है, हृदय की स्वच्छता उसका सुन्दर उत्तर दे सकती है। यहां साधक अपने को समझता हुआ आगे बढ़ता है, उसकी उन्नती उसके हाथ में है साथ ही ऐसे गुरू की सहायता भी जिसको पूर्ण ब्रह्म कहा जाय तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

दूसरे धर्म, सम्प्रदाय, पथ अपने को जीवित रखने के लिये आडम्बरयुक्त भक्ति की साधना को बतलाते हैं पर सहज मार्ग उस भक्ती के मार्ग को बतलाता है जहाँ सत्य है और उसको केवल सत्य का आधार है।

सहज मार्ग के साधकों से एक मेरी प्रार्थना है वह यह कि इस सुन्दर प्राकृतिक सत्य को किसी पथ तथा साम्प्रदाय का रूप न देकर केवल सत्य के आधार पर इसको जीवत रखे, तब एक दिन संसार को इसी सत्य के नीचे आना पड़ेगा तब सारा संसार कहेगा कि सहज मार्ग ही भक्ति का सच्चा साधन है।

———

नसीहत या शिक्षा अच्छी चीज़ है अगर वह खुदको दी जावे।

(कु० कस्तूरी चतुर्वेदी)

किस मस्ताने की यह मधुर-ध्वनि आरही है ? किस परजले परवाने की यह आंतरिक-पुकार है ? कौन ज्योति में ज्योति जलाकर राख होते २ भी किसी अमूल्य-शिक्षा की झंकार हमारे कर्ण-कुहरों में डाल गया है ? स्वतन्त्रता का कौन पुजारी हमें जगाता अपने साथ वहां ले चलने को मंजबूर कर रहा है कि जहाँ कोई राह नहीं है। कौन सी शिक्षा हमारे अंतर में पैठकर अंतर के तार तार को झंकृत कर गई है एवं कौन सी शिक्षा हमारे मन की पीड़ा को जागरूक करके ऊर्ध्वमुखी कर गई है। यह पावन मन-हरिणी एवं तरिणी शिक्षा की ध्वनि केवल हमारे समर्थ सद्गुरू की ही ओर से आ रही है जो हमें चैन नहीं लेने दे रही है। यह केवल आध्यात्मिक-शिक्षा ही हो सकती है अन्य नहीं। वास्तविक शिक्षा के दो ही मुख्य अंग हैं भौतिक-बाह्य-शिक्षा जो हमें संसार के प्रति जागरूक करती है। दूसरी आध्यात्मिक शिक्षा है जो हमें सद्गुरू द्वारा प्राप्त होकर हमारे अंतर की सारी क्रियाओं के रुख को 'साध्य' की ओर उन्मुख करके हमें स्वतंत्र करके मुक्तावस्था को प्रदान करती है। वैसे तो शिक्षा अथवा नसीहत के प्रकारों का छोर नहीं किन्तु हमें तो आज केवल उस एक वास्तविक-शिक्षा की ही ओर ध्यान देना है कि जिसको प्राप्त करके फिर शिक्षा की आवश्यकता ही सदैव के लिये समाप्त हो जाती है. शिक्षा के

केवल दो ही मुख्य रूप हो सकते हैं। एक तो भौतिक-बाह्य-रूप जो बाह्य-आडम्बरों द्वारा हमें संसार सजाने की शिक्षा देता है एवं हमारे वास्तविक स्वरूप के ऊपर आवरण बनकर छा जाता है जब कि दूसरा अध्यात्मिक रूप हमारे अंतर में ध्येय-प्राप्ति की भूख जागृत करके हमारे अंतर के विचारों एवं संकल्प, विकल्प रूपी सूक्ष्म से सूक्ष्म दोषों के कारणों को भी भस्म करने अपने सहज-रूप में सँवारकर साँचे मानव के रूप में परिवर्तित कर देता है। कहा भी है कि:— फरिश्ते से बेहतर है इन्सान बनाना, मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज्यादा। यही आध्यात्मिक शिक्षा है जिसका जन्म सद्गुरू-रूपी जननी द्वारा हमारे अन्तर में होकर अपनी तबज्जोह द्वारा हमें भाँति भाँति से शिक्षा देती रहती है। तभी हमारे अन्दर इस बात की दृढ़ता उत्पन्न होती है कि:—"नसीहत या शिक्षा अच्छी चीज है, अगर वह खुद को दी जावे"।

कहते है मानव- संकल्प रूप है एवं संसार केवल विचारों का विकार मात्र है। किन्तु सब कथनों एवं संकल्पों का मूल-आधार नसीहत या शिक्षा ही होती है जिसका परिणाम हमारा 'स्व, रचित ससार हो जाता है। जिसका यह पता पाना कठिन हो जाता है। किन्तु असम्भव नहीं कि यह स्वप्नवत् है अथवा केवल संकल्पवत् है परन्तु यह अवश्य है कि यह कुछ भी हो, कैसा भी हो इसकी सृष्टि संकल्पों अथवा विचारों के विकास मात्र से ही प्रारम्भ होती है और विचारों का प्रारम्भ तो नहीं किन्तु उनका विकास शिक्षा द्वारा ही होता है। यह भी कितनी अनोखी बात है कि जिससे उसका विकास होता है उसके लगे ही में उसके विनाश

की शक्ति भी उपस्थित रहती है। यदि शिक्षा के रूजहान विचारों को विकार की ओर मोड़ दिया तो संसार बन जाता है और हमारे डूबते, उतराते रहने के लिए भवसागर तैयार हो जाता है परन्तु यदि शिक्षा का रूजहान विचारों के विकास की ओर हो गया तो फिर हमारे जन्मजन्मान्तरों से रचित संसार का विनाश हो जाता है। भवसागर तब भवसागर न रह कर हमारे लिये पावन-ईश्वरीय धारा रूपी अविरल आनन्द का सागर बन जाता है जिसमें हम केवल एक अपने प्रियतम इष्ट के स्मरण रूपी विचार की पतवार का आलम्बन लिये अविचल गति से अपने 'उद्गम' की ओर यही गुनगुनाते अग्रसर होते जाते हैं कि:—"पार कहेते वार है, वार कहें नहीं पार, या मग वार न पार है, तन मन डारौ वार ॥

किन्तु! वह एक ऐसी कौन सी शिक्षा हो सकती है जिसके द्वारा हमें ऐसे अनुपम -एवं अलौकिक आनन्द का अनमोल रत्न प्राप्त हो जाता है? वह कौन सी स्मरण अथवा विचार रूपी पारस शक्ति तब हमें प्राप्त हो जाती है जिसके स्पर्श करते रहने मात्र से ही हम पर नसीहत अथवा शिक्षा का मूला-भेद स्पष्ट हो जाता है और हम कृतकृत्य हो उठते हैं? वह कौन सा अपार आनन्द हमें प्राप्त हो जाता है जिससे हमारा रोम रोम पुलकित हो उठता है और वाणी सदा सदा के लिये विश्राम लेलेती है? वह कौन सी मंजिल तब हमें मिल जाती है कि जहाँ "कोई मंजिल नहीं, हम यूँही चले जाते हैं"? भाई ऐसी परम पावन शिक्षा को केवल स्मरण रक्खा जा सकता है पढ़ा या लिखा नहीं जा सकता है।

शेष दूसरी पत्रिका में

Concentration

(Shri Ram Chandra Ji President)

Concentration as commonly taken to understanding, refers to a state in which the conscious activity of the mind is brought to a stand still. But that is not the correct interpretation of the sense implied in it. This concentration, implies physical efforts which one must resort to consciously or unconsciously. Usually one proceeds with it with a conscious idea of some particular state which he interprets as concentration. Generally people take it in the sense of an unnatural heavy sleep brought above by the temporary suspension of senses. As such it is Just like a state of senselessnes caused by the drowning effect of some intoxicating drug. It may perhaps be for that very reason that some of the so-called Mahatmas are usually found to be addicted to Bhang, Charas or Ganja.

Generelly teachers advise abhyasi to practise concentration as a priliminary step for meditation and the abhyasi puts himself to

efforts for affecting the same. But inspite of all his labours for years together, he is seldom able to achieve it. Why is it so ? The reason can in no way be attributed to any of the defects of the abhyesi but to that of the teacher himself who proceeds by his bookish knowledge to guide the aspirant on the practical path of realisation. The fact is that the entire process, as it is prescribed is wholly unnatural and artificial and the means adopted for the purpose are all physical and grosser. The result is that instead of proceeding towards subtleness they go on imbibing more and more of solidity and grossness and finally turn into an impregnable rock.

Taking up concentration in terms of suspension of mind one has necessarily to apply his effort to create in him a state of coma, Now the force required for the purpose is undoubtedly the physical force which acts in Combination with matter. Thus the whole process undertaken for the purpose becomes a material pursuit in the real sense. Concentration in that sense relates to the condition of the physical mind at the conscious level, the activity of

which is temporarily subdued by the application of the physical force. Practical examples offer sufficient proof to show that those having advanced with the condition thus developed, become internally so gross and rigid that they turn wholly insuseptible to finer and subtler influence. Concentration affected by forceful supression of thoughts leaves its weighty effect upon the mind. The force applied for the purpose also being a physical force, causes its own weight. Thus in a word the state of concentretion interpretted as coma is basically wrong since it keeps one in close touch with matter. In that sense, concentration may aptly be compared to a marshy condition, from which it is very difficult for one to extract himself out inorder to save himself from sinking down deep into it, unless he falls flat over it, giving up all his efforts. Those who proceed on with that condition, carry along all through with matter. It may however help them to some extent in their material purposes and be promoting in them hypnotic powers but it is not the least helpful in a purely spiritual pursuit.

The only proper course for an aspirant would therefore Be to get himself absorbed in the light of the Divine, coming to him from the Original Source with out minding the implications put forth by the word concentration In that case the question of concentration will not arise at all and one shall all along be with that which can neither be interpretted as concentration nor the otherwise. Concentration with all its implications affecting enclosement being not of any avail, it is only the power of Non-concentration, as I may call it that enables one's approach to higher and higher regions of enlightenment. Proceeding along in that way, one would keep on imbibing the power of the Source to light himself up with Divine Effulgence.

Now what condition does the word Non-concentration refer to ? Obviously it refers to a state associated with overflow of thoughts. But then there are two aspects of it, the one, when the flow is not conjoined with our conscious knowledge and the other when we have a conscious awareness of it and take its effect

upon the mind. This, the latter one, may no doubt amount to a state of distraction especially when one is linked with the thought of some misery or affliction. In the former case though the flow continues uninterruptedly, yet the encumbering effect thereof is not felt upon the mind. Normally this state of mind is seldom treated as disturbing. Taking these two aspects into view I might say that the latter is quite similar to the state known as concentration but with the only Difference that here the object of concentration is one's distraction and worry instead of the godly thought. It may therefore be taken as a crude concentration which is maintained by the force of our unconscious efforts. The effect in bolh the cases in the same i. e. heaviness, dullness or sluggishness. The very word concentration implies a sense of artificiality and effort is, for that resson, indispensable. When the flow of thought is spontaneous it is effort-less and closely similar to the state commonly known as concentration. The proper word for that may therefore be absorption, which is a natural course and follows by itself as the result of meditation, on the right lines.

Coneentration taken in the sense of absorption is the real state. it may be of different types at different levels. The one may be the concentration of the lower level, the other that of the higher level and still another that of the higher-most level. Now taking out the common factor, Concentration from these, what remains after, is only the lower, the higher and the higher-most. That is how one has to go on with his march towards the Ultimate. On the other hand if our thought remains involved with the ides of concentration, the inner force will not be working actively to offer us impetus for our higher ascent. The proper course would therefore be to take up the thought in the form of Shankalpa (Subtle idea) without any imposed resolve or effort and proceed on with it in a gentle and natural way without forcing any artificiality or imposition. Such is the process followed in Sahaj Marga which as a matter of fact introduces from the very beginning the very state which lies at the farthest end. Though in the beginning one might have at times, only glimpses of it, yet after continued practice the same condition covers him

all over. This is why inspite of the continuity of thoughts often at the time of meditation, one proceeding by Sahaj Marga experiences a peculiar state of concentration better interpretted as absorption.

Sahaja Marga

A NEW SCHOOL OF THOUGHT

(Sri Raghavendra Rao, B.Sc. B.E.M.I.S.E.)

India has been the homeland of Sages and saints. Wonderful freedom of thought and culture was prevalent in this country before the advent of British rule. Right from the closing period of that rule and after its end men of wisdom and vision have been striving to restore the original freedom which is the peculiar characteristic of this great nation.

During the interim period of our history some strange events happened. In order to preserve the intrinsic freedom, our forefathers had adopted peculiar methods of

classification, compartmentalisation and separation. The onslaught of the ruling classes influenced their mode to a great extent.

Now we have with us the classical six schools of philosophy, namely;–Nyaya of Gotama, Vaiseshika of Kanada, Sankhya of Kapila, Yoga of Patanjali, Mimansa of Jaimini and Vedanta of Vyasa. The last mentioned one caught the imagination and fancy of many philosophers and saints. In it they found the refuge and strong hold to protect our freedom of thought and culture from the onslaught of Buddhism, Jainism and materialiam. Although they could absorb Buddhism and Jainism into Hinduism yet when they were confronted with new religions like Islam with her holy Qoran and christianity with her Bible, they were forced to shield themselves with the Vedas and the Vedanta Sutras of Vyasa. Vedic rituals and Tantric ceremonials proved very effective shields against the holy crusaders swords and fires.

Shankara was the first to interpret the Vedanta to masses and Ramanuja, Anandathirtha

the place for destroying the temple, Lom Shiva (Vishwanath Ji) ran away from his seat in the temple and hid himself in this well. I could not imagine any thing more scandaious and more shameful than this device of the selfish greedy man to satisfy his lost for money or even for making his earnings. I could not restrain myself and said something quite harsh to him. Could and body imagine that Lord Shiva of whom hour scriptures say that he has a third eye and if it is opened, all is aflame and destroyed, would run away from a simple mortal be he an emperor or even more and take shelter in a dark well ? And if He is so weak, why should He be worshipped as a God ? Why should not man be worshipped who had the audacity and power to make Him flee ? To my logic, as a thought, the facts could have been that when Aurungzeb would have come to the erstwhile temple, the pujari in view of the breaking of the idol and thrown it in the said well, in ordrr to save it from being broken at the hands of the emperor. But what a great shameless twist to the facts in the most selfish interest of one's own self ? Simply surprising and scandalous. Then these are the typical ways and means to fleece the simple folk for the personal gratification of so called Pandits and in-charges of

temples. Really speaking, such things weaken our faith in God and the greatest disservice which is possible, is been done to the man-kind by such Pujaris and Mahants of maths etc. in religious places filled my heart with very different fleelngs and the repulsion in me towards a Guru and these religious institutions continued to grow.

Often, in the nights, before going to sleep, I used to think of the utility of these sacred places-these temples. To my mind these were more of nuisance value, sometimes a curse to the Hindu society instead of doing any good to us; these were doigg utmost harm to our religious beliefs and faith. Then why our old sage who were of course very wise people, created this intitution of temples ? To what use they were ? What was their utility ? These were the questions which often raged my mind and to which I could not get a ready answer which could be of any satisfaction to my turbulent mind those days. Even my philospher friend Hari could not satisfy me on this score and they remained only question to me then.

In the vagaries of such conflicting thoughts,

My Master of This World & Beyond

(By Ram Chandra Saksena)

The year one thousand nine hundred thirty nine. The child of yester had now grown into a boy verging on man-hood. I was then a student at the Universty of Allahbad. Amongst many friends there was one to whom I was a little bit more attached, Hari, a simple unsophisticated type of person. Sometimes, we used to talk of religion, spiritualism and philosphy. To him, I do not know what it meant, to me it was nothing more than a little of serious talk, a little drifting away from the hundrum life of a young boy at the University-a sort of mental gymnastics. But these talks always centred round the philosphy of 'Nirakar' of whom I was convinced but I was always shaky to accept the method convassed by Hari, who was often disturbed by me in his meditation, when some-times I found him as such, while visiting his room in his hostel.

These oft-repeated discussions with him, those mental gymnastics, as I have called them, atleast did this much good that with the interest I took in them, I could gather that the religious instinct was there in me as also the spiritual year-

nings but to give proper vent to these feelings, sleeping as they were in me, required development. How to develop was the question ? I had too much logic in me and before I could adopt to some system, I wanted to be fully satisfied regarding its efficacy before its acceptance. During the period, I had occasions to visit the tl en Banares now Varanasi and Ayodhia simply for sight seeing purposes; I visited the temples there. What a demoralisation and degradation I found there, specially in the high priests and incharges of these temples, I do not want to say. But then, it was a height of spoiling the fair name of God for personal gains and aggrandisement. I re-call to my memory one small incident in this connection. I, along with two of my fellow students had gone to see the Vishwanath temple at Banares. In between the present temple and the mosque where previously stood the old temple as the story goes, is a big well which was covered by a huge tarpaulin and on it were spread hundreds of coins of practically all denominations. And there sat a 'Panda' Who I suppose was the in-charge of that well. We came across the well and seeing such a huge collection of many in small coins, we went near it. At the time, some families of South India were taking a 'Parikrama' of the well and after throwing some coins on the tarpaulin, moved away.

We were then standing quietly at one side of the well. After the families mentioned above had moved out, out of curiosity and for the sake of knowing things, we accosted the Panda I/C of the well and asked him the importance of the well in question. His reply to our querry was simply stunning. He told us that the original temple of Vishwanath Ji was at the place where stands the mosque to-day. In Moghul times, when Aurangzeb, the then emperor of India came to the place for destroying the temples, Lord Shiva (Vishwanath Ji) ran away from his seat in the temple and hid himself in this well. I could not imagine any thing more scandlous and more shameful than this device of the selfish greedy man to satisfy his lust for money or even for making his earnings. I could not restrain myself and said something quite harsh to him. Could any body imagine that Lord Shiva of whom our scriptures say that He has a third eye and if it is opened, all is aflame and destsoyed, would run away from a simple mortal be he an emperor or even more and take shelter in a dark well ? And if He is so weak, why should He be worshipped as a God ? Why should not man be worshipped who had the audacity and power to make Him flee ? To my logic, as I thought, the facts could have been

that when Aurangzeb would have come to the erstwhile temple, the Pujari in view of the breaking of the idol at Somnath earlier, might have taken away the idol and thrown it in thh said well, in order to save it from being broken at the hands of the emperor. But what a great shameless twist to the facts in the most selfish interest of one's own self ? Simply surprising and scandalous. Then these are the typical ways and means to fleece the simple folk for the personal grati fication on of so called Pandits and in charges of temples. Really speaking, such things weaken our faith in God and the greatest disservice which is possible, is being done to the man kind by such Pujaris and Mahants of Maths etc. Naturally, all such visits to the temples etc. In religious places filled my heart with very different feelings and the pepulsion in me towards a Guiu and these religious instutions continued to grow.

Often, in the nights, before going to sleep, I used to think of the utility of these sacred places-these temples. To my nind these were more of nuisance value, sometimes a curse to the Hindu society instead of doing any good to us; these were doing utmost harm to our religous

beliefe and faith. Then why our old sages who were of course very wise people, ereated this institution of tempes? To what use they were? What was their utility? These were the questions which often raged my mind and to which I could not geta ready answer which could be of any satisfaction tc my turbulent mind those days. Even my philcspher friend Hari could not satisfy me on this score and they remained only questions to me then.

In the vagaries of such conflicting thoughts, I came acroos one very memorable personality of Sri Rameshwer prasad Ji Misra, popularly known as Papa, at Shahjahanpur. I had known him from much before but then I did not know any thing of his spiritual persuits and attainments. Of course, I liked him from the very beginning because of his amiable and pleasant nature. Now, when I came to know of him as a spiritual high up, naturally I questioned him about the existence of these temples in the light of my above thoughts and mental wanderings. I was very lucky in this respect, as the replies of 'Papa' were very convincing and sc entific-appealing to me. In short, he told me that in case of a child in his preliminary stage, he is

taught the alphabet with the aid of pictures such as 'A' for apple and it is real y with the picture of the apple that the child recognises or understands the alphabet, But if that very child when grown up and gone further into his studies, requires the pictures to understand the alphabet. A then in the real sense the the boy has not yet passed the preliminary stage. His passing in to a higher plane of his studies can only be possible if he does away the use of the pictures in understanding the alphabet. Similar is the case with the temples which are meant to be like pictures for understanding the alphabet i. e. God but if a peson continues to make use of the temples for his further spritual attainment. it shows that he has still not advanced to a higher stage and continues to remain in the preliminary position. In other words, it can be said that the temples are just a beginning to an end and not an end in itself In the higher studies of the spiritual science, temples have to be left behind, really much behind.

'Papa' had created a very good impression on me with regard to his method but still then I was a little doubtful. The reason being, that I wanted to tread that path which was a sure hit and I, therefore wished thet before I agree to move ahead, I must be positively sure of my footing. So, this continued and I was still no where, roving in to darkness.

The Vision of the Divine.

The state of Darshan or the Vision of the Divine is a spiritual stage which comes by itself by the effect of abhyas on the right lines. But the view usually taken of it is widely different from the real condition. It commonly refers to the mental visualisation of the form of God as taken by one into conception. The worshipper craves for the visionary sight of one he worships in the exact form he has taken into conception. Each of the gods is believed to be possessing a particular physical form of its own. We have thus the figure of Lord Vishnu with his four hands, each holding in it a conch, a discus, a mace or a lotus, that of Shiva with serpants curling round his arms and neck and that of Durga riding on a tiger. The same prescribed forms are depicted in pictures and paintings and are adhered to with intense rigidness and orthodoxy. The same form is kept in view all through in his practices of worship. By continued practice the prescribed form settles down deep upon his mind and he is unable to get away from it at any time. Now all that Darshan means to him is the mental visualisation of an imaginary view of the same form. In most of the cases the vision is brought to

view by exercising the power of thought or will. Hence the state developed thus is artificial all through and quite apart from the real state. Moreover the physical form, so rigidly adhered to serves as a material enclosement keeping one in direct touch with matter. On the other hand one is thereby trying to enclose 'The Limitless' within bounds. Such a vision if at all it comes to his view shall be the result of his forced imagination through physical efforts. The effect thereof can be nothing but the growth of grossness and materiality. Such a vision is merely the result of intensive imagination. My Master's view about it is, that in all such cases the physical form appearing to view is not actually that of the god, for the god possesses none, but as a matter of fact his own astral form appears in his vision, assuming the form, taken up by him in his imagination. Thus the real purpose is defeated all together and in its place only a sort of amusement or enjoyment is gained. It is all therefore a mere play of imagination at the physical level.

The state of Darshan as it develops by the practice of the Sahaj Marga Sadhana is different from the one described above. When this condition develops an abhyasi begins to feel in everything around him the presence of a peculiar

Divine force which brings him into a state of wounderous trance, indescribable in words. At the preliminary stage one often feels a slight emotion stirred up in his mind which may roughly be compareable to mild ecstasy and which seems to be very charming at the time. Later on as the condition touches the deeper layers of consciousness, the feeling of excitement or emotion seems to have cooled down and apparently the condition seems to have been lost. At that level the abhyasi feels a bit perturbed thinking that he has missed it. But that is not so. The fact is that so long as it is in touch with his grosser consciousness it is physically perceptible but when it goes into deeper layers, the physical consciousness of it is lost and he mistakes it as missed. It is really a finer and higher state of the same condition and it is free from charm or emotion of the grosser type. It is rather tasteless or dull in comparison to the previous state, yet the consciousness of the presence of the Divine force in a subtler form is still there in the heart though it is not within his outer awareness. It is in fact a finer state of Darshan. In my Master's words, the vision of the Divine experienced all around outside is really a reflection of the inner vision. At elementary stage, owing to the outward tendency of mind

the vision seems only an outer experience. But afterwards when the outward tendency weakens the same condition seems to have reflected inwards, prevailing all within. That is then the next stage. At this stage one begins to feel absorbed in himself. The condition, further goes on growing finer and finer, though the shore of the Infinite Ocean is far off yet.

Under the Sahaj Marga system of Sadhana, the conditions develop automatically as one advances with his abhyas with love, faith and confidence. Much, of course, depends upon the sweet will of the Master who can infuse into the abhyasi through transmission any of the conditions required at the time or as he deems fit. But this is a different question. The abhyasi must, however proceed by the proper method, seeking all the time guidance and inspiration from the worthy Master.

THE QUEST.

(Sri Raghavendra Rao B.Sc , B.E., M.I.S.E.)

The quest for right knowiedge has led some great sages towards the discovery of some methods of practice to develop right thinking. Whether the quest for right knowledge is the inherent property of the human soul or whether it is the result of a deeper urge for perfection, for unalloyed and everlasting bliss or for the realisation of Self need not hinder us from accepting it as a bare fact. Although at a certain stage this quest may get disillusioned by realising that it was a mere illusion yet so long as the spiritual bird is entrapped in the material cage it is bound to flutter.

One is reminded of Plato's beautiful simile of the cave :— "Behold human beings living in an underground den, which has a mouth open towards the light and reaching all along the den; here they have been from their childhood, and have their legs and necks chained so that they cannot move, and they can only see before them, being prevented from the chains from turning round their heads. Above and behind them a fire is blazing at a distance and between the fire

and the prisoners there is a raised way; and you will see, if you look, a low wall built along the way, like the screen which the marionette players have in front of them over which they show their Puppets.

"And do you see, men passing along the wall carrying all sorts of vessels, and statues and figures of animals made of wood and stone and various materials, which appear over the wall, some of them are talking, others silent.

"Like ourselves they see only their shadows, or the shadows of one another, which the fire throws on the opposite wall of the cave..... and the objects which are being carried in like manner they would only see the shadows..... to them, the truth would be literally nothing but the shadows of the images....."

The solution is till more important as it resolves the problem into its proper perspective. Right thinking is absolutely essential for right knowledge. How to develop right thinking is the immediate problem. Philosophers and psychologists have given us elaborate data and most complicated and even confusing and contradictory theories regarding the mechanism and nature of

the process of thinking. Although these may make entertaining and amusing reading yet one cannot have the direct and intimate experience of it unless he finds it out for himself.

Normally our thinking is mostly dependent upon our perceptions which include not only our sense-perceptions but inferences, beliefs, memories and other vital activities also. Due to unregulated and uncontrolable habits of thinking we find our thoughts to be mostly fantastic and far removed from reality. Our thinking turns out to be largely wishful-thinking; and when there arise violent contradictions we experience mental setbacks with undesirable results of mental and physical diseases. The most harmful result of the unregulated habits of mind is the further increase in its uncontrolability which is cumulative and which is the root-cause of mental, moral and spiritual degeneration.

That is why saints and sages stress upon the necessity of regulation of mind. But here too in their zeal to curb the cravings of mind some Swamijis have declared a war against the mind and have preached means to strangle and stifle the mind. They scold the mind and call it names and preach that mind is the deadliest enemy of man and so it is imperative to curb all its activi-

ties and bring it forcibly to a standstill. In fact they have doped and poisoned people's minds with such ideas of torturing the mind and body. They preach mechanical practices like worshipping idols with elaborate and complicated rituals, repeating some Mantras (sacred syllables) continuously for years together, adopting most intricate and at times harmful postures of body etc. Some have gone to the extent of even recommending the use of narcotics to drug and calm the mind.

In all the above-mentiond practices the fundamental fact that it is mind alone which has conceived those methods, is forgotten. We have to take the help of our mind alone to reach higher state of consciousness and finally to reach God. If we strangle or drug the mind, how can we proceed further ? How can we develop right thinking when the process of thinking itself is forcibly checked up ? Mind is after all an instrument. How can it be our enemy ? It will be just like calling the naked sword our enemy because it is hurting our own body due to our wrong handling of it.

Therefore our first necessity is to regulate the workings of our mind so that the thoughts rising in the mind-lake may be right and pure. The method which we take up for practice must

be such that it should not increase the already existing solidity and grossness but it should throw them out and purify the mind-lake, so that the real calmness which is the natural characteristic of the soul may be regained for our onward journey.

It has been hinted above that the field of the activities of mind is our heart. All our vital activities, desires and volitions can be traced as originating in our heart. Our heart is the storehouse so to say, of our feelings and emotions which are lying there manifest as well as in seed form. The heart-region can be fittingly called the field of the mind's activities. Now, if we clean and purify the field of the undesirable elements and unwanted growth we can perceive the actual power of thought which is pervading the whole of the heart-region. Whatever seeds we introduce in our heart they will get nourishment from this all- pervading power of thoght and will sprout forth in the field into mighty trees. But let us not undertake the experiment of introducing new seeds in the field before weeding out the parasitic impurities therefrom.

The great researches of my Master about this heart-region have brought forth many hidden

mysteries to light. His exposition of various points and sub-points in the heart-region is at once very inviting and true to experience. We have only to take up the experiment under the guidance of a capable and worthy guide in order to verify the facts and to do further research for the benefit of ourselves as well as of humanity. There are some practices which are very easy and most effective to purify and cleanse the heart. If the vital points which are the centres of power and consciousness and which govern our ways of living and thinking, if purified and set right by the concentrated power of thought, can revolutionise our entire being. The field can be purified within an amazingly short time, so much so that no grossness or solidity will be left over and man will begin to move into the mind-region which also is purified in the process.

Although the whole problem of our existence is not solved in toto by crossing the region of heart yet we will be freed from the earth-bound tendencies and we would have reached a state of salvation. Liberation too will not be a far off thing. And as the field is purified and we have journeyed through the all-pervading power and have realised the calmness of soul, our mind lake has now become calm and steady. The thoughts rising in the mind-lake are on right

lines and our speech and other activities are getting in conformity with our real nature. Now we are prepared to attain the real knowledge of the Reality. Although our quest has not stopped and we should not stop at this stage, yet our living is on the basis of bliss and Atmananda.

These are the states which is the birth-right of every human being. People bound to materialism can never have even an inkling of these. Moreover, our reverend preachers, who preach only through the obsolete language of our old scripture, have misled us into various wrong and unreal superstitions and beliefs. If only our preachers had practised on right lines or at least were ready to take up the research, our common notions regarding spirituality and Yoga would have been different. But the venerable preachers consider themselves to be omniscient and Jagadgurus (world teachers) and we too add to their stupidity, conceit and confusion by encouraging them and treating them as gods In short we are spoiling them and they are misleading us. This sorry state of affairs must come to an end. Every one of us should wake up to the needs of the present times which are fast changing. We should sincerely strive to attain the complete freedom and liberation which is our birth-right. And God will surely help us.

MY MASTER OF THIS WORLD & BEYOND. (-III-)

(Shri R. C. Saxena)

The epoch year for me one thousand nine hundred forty five: In between I was meeting papa and I think, was being influenced by him though I should frankly admit, it was so subtle an influence that it was hardly visible even to the mental eye. Suddenly, one incident happened. There was a death of a near and dear for me and the grief was so great with me that I was perfectly enveloped by it. In spite of all of my logic that persons come and go and so many other thoughts, I was too much grief stricken, so much so that for about a week, I could not take even a morsel of food and for two or three nights I had practically no wink of sleep. Constant thought of the dead was torturing me. During the period, sometimes, I hated my ownself for being such as weak-hearted person so as to be helpless to control my feelings. I started thinking of doing something which may strengthen me mentally and spiritually as in my view, living in the world meant too much hardship; so many troubles, so many griefs and so many sorrows and I thought I must prepare myself to boldly

face the world and its attendant ills. At this time, I donot know why I thought of Papa. Really, I thought about him many a times during this period of my mental torture and dear readers, you may believe me or not but I must confess that the very thought of Papa gave me some solace of mind, however, microscopic it may have been.

Willy-nilly, the period of ten days after the death was somehow, over and the first thing after all the ceremonies having been held, I did, was to rush to Papa's house. He was there and I met him in his familiar room on the upper storey where I had been previously also to meet him at times. In his usual characteristic style, he received me and in a sentence offered his condolences. I sat on the bed on which he was sitting. Not a word was spoken between us for a few minutes within which I felt like lying down and taking his permission which he readily gave, I actually became at ease on the bed and within a minute or so I was sleeping. I do not know whether I was really sleeping or was in a sleeping state but twenty minutes passed off, thus. Then, some other gentleman had come and Papa was heard talking to him. On this, I got up and sat there quietly. In a few minute's time that

person went away and we both were again left alone. Papa asked me as to how I felt then, I cannot share my feelings of the time with you-dear brethren, as I myself was not able to fathom them except that I felt very light, very calm, very sobre and beareft of all those thoughts of sorrow and grief which had been haunting me all those ten days. Really, I took this to be just a thing of miracle. I now unfolded my heart to Papa and told him frankly that I wish to strengthen my heart to this extent that I may be able to face the brevities of the world and the miseries etc. bravely as with such a weak heart within me as I had witnessed during these days, I felt ashamed on my one weakness and was so much belittled in my own estimates about myself. Papa promised that this will be done and even much more. I also felt that Papa was quite correct and with his help my this desire, very ardent as it was, would really be fulfilled. He then askod me to come next day and I came home, much relieved, quite happy. My parents felt astonished at the change in me.

For a few days more I was at Shahjahanpur and during this period I regularly visited papa who explained to me the philosophy and methods which he advocated. He told me the

efficacy of transmission which plays the dominant role in our institution He transmitted to me regularly and I sat with him in meditation each day. These few days only had created in me a longing to know more about this and of course I cannot describe the pleasant vibrations which I had, during the meditation time. It was now time for me to leave the city and I left, sad at my heart for the loss of company of dear Papa a very loveable figure that I had come across till then. As told by him, I continued with my meditation, each morning and evening. But then that pleasure which I derived while getting his transmission face to face was not there while alone. So after a few months I came to Shahjahanpur again primarily with the purpose of getting transmission at the hand of Papa. I got it in abundance and then one day he told me that I must go along with him to a Guru who is available at Shahjahanpur itself and who was as great as any thing. Oh, my God, again a Guru. What a fate ? I will have to have a Guru. No, I cannot. The old repulsion rose in me whih full force. I will not have a Guru-I told Papa frankly and also about all my experience and repulsion of a Sanyasi whom I had in my mind conneeted somehow with Gurudom. Excuse me

friends, for my writing so much about a Sanyasi. I admit that there may be some very fine Sanyasi with high approaches towards God but then according to my logic they are seldom found in habitations. Today, the robes of Sanyasi to my mind, have become a profession in itself and a very easy and fine method of earning livelihood. Once I had been to Hardwar. After taking my bath I was taking a round just for fun, that I came across a Sadhu, who had some followers sitting by his side. I went in for the sake of of curiosity. Reaching nearer, I found to my amazement that the Sadhu was none else bntan old class fellow of my school days, who had faild in Ninth Class thrice and was very naughty and and notorious student of the school and about whom I had heard later when I was in the College that he had fled from his home and was not to be found. I recognised him and he recognised me. He came out of his 'kuti' and aside I accosted him by his original name. He bade me to keep quiet and confidentially told me his story and confessed that when he found no other alternative to live upon, he came to this line and was quite happy there. My logic and common sense says that taking Sanyas as it is considered to be in the present form, is against the will of Nature. (contd.)